

AMOGHVARTA

ISSN : 2583-3189



संत साहित्य की लोकमंगल चेतना और सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि

ORIGINAL ARTICLE



Author

डॉ. पूनम पाण्डेय
सहायक आचार्य, हिंदी विभाग,
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय
अमरकंटक, मध्य प्रदेश, भारत

शोध सार

संत साहित्य भारतीय सांस्कृतिक परंपरा की अमूल्य धरोहर है, जिसके चिंतन और सृजन के केंद्र में लोकमंगल, मानवतावाद, समता तथा सामाजिक समरसता की व्यापक भावना विद्यमान है। मध्यकालीन सामाजिक परिस्थितियों में संत कवियों ने धार्मिक रूढ़ियों, कर्मकांड, जातिगत भेदभाव, सामाजिक विषमता और सांप्रदायिक संकीर्णता का प्रतिरोध करते हुए मानवीय मूल्यों पर आधारित समाज की संकल्पना प्रस्तुत की। इस दृष्टि से संत साहित्य केवल आध्यात्मिक अनुभूति और भक्ति की अभिव्यक्ति न होकर सामाजिक चेतना, सांस्कृतिक पुनर्संरचना और लोकजागरण का प्रभावशाली माध्यम सिद्ध होता है। प्रस्तुत शोधलेख में संत साहित्य की लोकमंगल दृष्टि का भारतीय समाज के संदर्भ में विश्लेषणात्मक एवं आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है। लोकमंगल की भारतीय अवधारणा को वैदिक एवं उपनिषदिक चिंतन, बौद्ध करुणा, जैन अहिंसा तथा भगवद्गीता के 'लोकसंग्रह' के व्यापक परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास किया गया है साथ ही यह विवेचित किया गया है कि संत कवियों ने इन मानवीय एवं कल्याणकारी मूल्यों को किस प्रकार दार्शनिक विमर्श की सीमाओं से निकालकर लोकभाषा, लोकजीवन और व्यवहारगत आचरण से जोड़ा। अध्ययन से

स्पष्ट होता है कि कबीर, रविदास, गुरु नानक, दादू दयाल, नामदेव, एकनाथ और तुकाराम आदि संतों की वाणी ने सामाजिक रूप से उपेक्षित एवं वंचित वर्गों में आत्मसम्मान, आत्मविश्वास और समानता की चेतना का संचार किया। उन्होंने मनुष्य की श्रेष्ठता को जन्म अथवा जाति के आधार पर निर्धारित करने के बजाय उसके गुण, कर्म, आचरण और मानवीय मूल्यों से संबद्ध किया। इस प्रकार संत साहित्य की लोकमंगल दृष्टि भारतीय समाज में सामाजिक न्याय, सांस्कृतिक समन्वय, मानवीय गरिमा और समरसता की स्थापना की सशक्त वैचारिक आधारभूमि प्रस्तुत करती है।

मुख्य शब्द

संत साहित्य, लोकमंगल, सामाजिक समरसता, वैचारिक दिशा.

भूमिका

भारतीय संस्कृति का मूल स्वभाव समन्वय, सहिष्णुता, आध्यात्मिकता तथा लोकमंगल की भावना से अनुप्राणित रहा है। भारतीय चिंतन-परंपरा में संस्कृति को केवल जीवन-पद्धति न मानकर मानव-जीवन के परिष्कार, सामाजिक नैतिकता के निर्माण तथा सांस्कृतिक संरक्षण का सशक्त माध्यम माना गया है। वैदिक ऋचाओं से लेकर आधुनिक साहित्य तक भारतीय वाङ्मय का एक प्रमुख उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास तथा समाज में सद्भाव, समरसता और लोककल्याण की स्थापना रहा है। इसी दीर्घ सांस्कृतिक परंपरा में संत साहित्य का उद्भव भारतीय सामाजिक एवं साहित्यिक इतिहास की एक महत्वपूर्ण युगांतरकारी घटना के रूप में हुआ। संत कवियों ने ऐसे विषम सामाजिक परिवेश में जनमानस को नई दृष्टि प्रदान की, जब समाज धार्मिक आडंबरों, जातिगत विभाजनों, सामाजिक विषमताओं और सांप्रदायिक तनावों से ग्रस्त था। उन्होंने अनुभवजन्य

सत्य, सहज भाषा और मानवीय दृष्टि के माध्यम से ऐसे समाज की संकल्पना प्रस्तुत की, जिसमें मनुष्य की प्रतिष्ठा जन्म अथवा जाति से नहीं, बल्कि उसके आचरण, श्रम, प्रेम और आध्यात्मिक चेतना से निर्धारित हो। मध्यकालीन समाज में वर्णव्यवस्था के विकृत स्वरूप, धार्मिक रूढ़ियों, कर्मकांड और बाह्याचार ने सामाजिक विभाजन को गहरा किया। ऐसी परिस्थिति में संतों ने किसी वर्ग या संप्रदाय विशेष का समर्थन करने के बजाय समस्त मानवता के कल्याण को अपनी साधना और साहित्य का केंद्र बनाया। उन्होंने ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग बाह्य अनुष्ठानों के स्थान पर आत्मशुद्धि, प्रेम, सत्य, सेवा और समता में खोजा इसीलिए संत साहित्य व्यक्ति-कल्याण और समाज-कल्याण को परस्पर अविभाज्य मानने वाली लोकमंगल की सशक्त परंपरा का प्रतिनिधित्व करता है।

लोकमंगल भारतीय चिंतन की प्राचीन एवं व्यापक अवधारणा है, जिसके विविध रूप 'सर्वे भवन्तु सुखिनः', बौद्ध करुणा, जैन अहिंसा तथा गीता के 'लोकसंग्रह' में दृष्टिगत होते हैं। संत साहित्य ने इन आदर्शों को दार्शनिक विमर्श से निकालकर जनभाषा और जनजीवन से जोड़ा। कबीर, रविदास, गुरु नानक, दादू दयाल, नामदेव, एकनाथ और तुकाराम आदि संतों की वाणी ने लोकधर्मिता, सामाजिक जागरण, समता और मानवीय बंधुत्व को व्यापक अभिव्यक्ति प्रदान की।

संत साहित्य और उसका ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

हिंदी साहित्य के भक्ति काल की निर्गुण धारा को ज्ञानाश्रयी शाखा या संत काव्य के रूप में अभिहित किया जाता है। परशुराम चतुर्वेदी लिखते हैं, "संत शब्द का प्रयोग प्रायः बुद्धिमान, पवित्र आत्मा, सज्जन, परोपकारी या सदाचारी व्यक्ति के लिए किया गया मिलता है और कभी-कभी साधारण बोलचाल में इसे भक्त, साधु व महात्मा जैसे शब्दों का भी पर्याय समझ लिया जाता है।" आचार्य शुक्ल भक्ति काल की जिस निर्गुण धारा को ज्ञानाश्रयी नामकरण प्रदान करते हैं, वही धारा संत काव्य के रूप में प्रतिष्ठित है। स्वयं आचार्य शुक्ल ने भी इस धारा के कवियों के लिए संत नामकरण को ही चुना है। कबीर दास के समय से प्रारंभ हुई यह धारा संत पलटू तक अविच्छिन्न रूप से चलती है। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी संत की व्यापक परिभाषा प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार "जिसने सत्य स्वरूप नित्य वस्तु का अनुभव कर लिया है और जो उसके साथ तद्रूप हो गया है, वही वास्तव में संत है। मानव जीवन को समुचित महत्व प्रदान करने, उसको आध्यात्मिक आधार पर पुनः निर्मित करने, जीवन विजय के प्राप्ति के उपाय ढूँढने तथा विश्व कल्याण में सहयोग देने के कार्य ही संतों का प्रधान लक्ष्य है।"²

वस्तुतः संत काव्य के मूल में निर्गुण भक्ति है। संपूर्ण संत साहित्य परमात्मा के निर्गुण-स्वरूप को केंद्र में रखता है। परमात्मा के निर्गुण स्वरूप की चर्चा हमें वेदों, उपनिषदों, श्रीमद्भागवत आदि में विशद रूप में मिलती है।³

संतों की विचारधारा पर उपनिषदों का स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। गोविंद त्रिगुणायत लिखते हैं, "संत साहित्य पर उपनिषदों के गुरु-शिष्य अधिकारत्व, ज्ञान-वैराग्य की स्वीकृति, आध्यात्मिक अद्वैतवाद, ब्रह्म-निरूपण, आत्म-निरूपण, मुक्ति-धारणा, साधना-पद्धति, सदाचार-प्रवणता, पिंड में आत्मा-परमात्मा के अस्तित्व की कल्पना, प्रणववाद, जन्मान्तरवाद, कर्म-सिद्धांत, रहस्य-भावना आदि विविध विचारों का प्रभाव दिखाई देता है।"⁴

सच्चा प्रेम ईश्वरपरक होता है। प्रेम और बिरह के साथ-साथ संतों ने सुरा को भी स्थान दिया है, किंतु यह भावात्मक है, भौतिक नहीं। सूफी लोग साधक को यात्री कहते हैं, संतों ने भी उनके इस विश्वास को स्वीकार किया है।⁵ वे ईश्वर को प्रेमिका और स्वयं को प्रेमी मानकर अपने प्रेम की अनुभूतियों की अभिव्यंजना करते हैं। संत कबीर पर दांपत्य प्रतीकों का विशेष प्रभाव है। डॉ. गोविंद त्रिगुणायत कहते हैं, "सूफियों की बड़ी-बड़ी बातों के प्रभाव के अलावा अनेक छोटी-छोटी बातों का भी असर दिख पड़ता है। ऐसी बातों में स्वतंत्र चिंतन, भावना मूलक बुद्धिवादिता, धार्मिक विधि-विधानों के प्रति उपेक्षा भाव प्रकट करने की प्रवृत्ति, पीर की प्रतिष्ठा, आत्मा-परमात्मा का अंशांशभाव, ईश्वरोन्मावाद की अनुभूति, आत्म-बलिदान, त्याग की भावना आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। संतों की वाणी में इन सबसे उदाहरण मिलते हैं।"⁶ संत साहित्य के संबंध में नगेंद्र मत व्यक्त करते हैं, "संत काव्य साधना में तत्पर एवं सर्वजन की मंगल कामना करने वाले भक्तों के सरल हृदयों की सहज अनुभूति का चित्रण मात्र है। यह वह प्रकाश स्तंभ है जो निराशा, वासना, प्रतिशोध और प्रतिहिंसा के अंधकार में भटकते हुए मानव समाज को शताब्दियों से प्रकाश दे रहा है और भविष्य में भी मार्ग प्रशस्त करता रहेगा।"⁷

संत साहित्य में लोकमंगल की अवधारणा और स्वरूप- श्लोकमंगल भारतीय संस्कृति और दर्शन की एक अत्यंत प्राचीन तथा व्यापक अवधारणा है। 'लोक' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में "जन" के समानार्थी के रूप में, महाभारत में 'जनसमुदाय' गीता में 'संसार या सृष्टि' और हिंदी साहित्य कोष में 'संसार' एवं 'जनमानस' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने श्लोक को उस व्यापक जनता के अर्थ में ग्रहण किया है जो शास्त्रों के बंधन से मुक्त है। उनके अनुसार, "लोक का अर्थ

है वह सामान्य जनता जो नगरों और ग्रामों में फैली हुई है और जिसका व्यवहार शास्त्रीय नहीं है, बल्कि परंपरा और अंतःप्रेरणा पर आधारित है। लोक साहित्य वही है जो इस सहज विवेक को स्वर देता है।⁸

संतों ने भी अपने अनुभव, आचरण और वाणी के माध्यम से ऐसे समाज की कल्पना की जिसमें समानता, प्रेम, सेवा, करुणा और न्याय की व्यवस्था हो। उनके अनुसार प्रत्येक जीव के हृदय में परमात्मा का वास है और उसकी प्राप्ति का मार्ग अंतःकरण की शुद्धता, प्रेम, सत्य और भक्ति से होकर गुजरता है, जैसा कि कबीर ने कहा— “राम नाम की लूट है, लूटि सके तो लूट। अंत समय पछताओगे, प्राण जाएंगे छूट।।” जबकि मलूक दास कहते हैं— “अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम। दास मलूका कह गए सबके दाता राम।।”⁹ और संत रविदास के शब्दों में— “प्रभु जी तुम चंदन हम पानी।”¹⁰

सभी ज्ञानमार्गी संत कवियों ने लोकमंगल के लिए बाह्य आडंबर, अंध श्रद्धा तथा रूढ़िवादिता का घोर विरोध किया। कबीर दास इस धारा के सबसे प्रखर स्वर हैं। उन्होंने मूर्ति पूजा, तीर्थों के अंधविश्वास और बाह्य धार्मिक आडंबरों पर तीखा प्रहार किया। आडंबर, ढोंग, ढकोसले पर वार करते हुए “मुख में राम बगल में छुरी” वाली प्रवृत्ति पर तंज किया—

मूड़ मुड़ाये हर मिलें, तौ सब कोइ लेय मुड़ाय।
बार—बार के मूड़ते, भेड़ कब बैकुंठ जाय।।¹¹

इसी प्रकार संत नामदेव कहते हैं:

हिंदू पूजै देहरा, मुसलमान मसीह।
नामा नाही सेविये, जहां देहरा न मसीह।।¹²

इस संबंध में परशुराम चतुर्वेदी कहते हैं, “उन्होंने सभी प्रचलित धर्म के मूल सिद्धांतों के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की, किंतु उसके बाह्य आडंबरों को गौण स्थान दिया। वे थोथी विडंबनाओं के प्रबल विरोधी थे और सत्य व ईश्वर के नाम पर ढोंग रचने का स्वार्थ साधन करने वालों को खरी-खोटी सुनाने में कभी नहीं रुकते थे। उनकी सारी बातें निजी अनुभवों के आधार पर आश्रित थीं और दूसरों के भी निजी अनुभवों को ही अपनी कसौटी के लिए लक्ष्य बनाती थीं।”¹³

कबीर अपने समय की विसंगतियों पर जब प्रश्न खड़े करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने कितने आगे की सोच कर अपनी आवाज उठाई है:

कबीर कलि खोटी भई, मुनियर मिलै न कोय।
लालच लोभी मसकरा, तिनकू आदर होय।।¹⁴

समाज की स्थिति को देखकर कबीर झुंझला उठते हैं और इसके कपट, चालाकी, दोहरे चरित्र और छल—कपट पर कह उठते हैं— “मेरा तेरा मनुआ कैसे इक होई रे। मैं कहता हूं जागत रहियो। तू रहता है सोई रे।”¹⁵

संतों ने दंभ और दिखावा को सबसे बड़ा अवगुण माना है। कबीर मनुष्य को समय रहते चेताते हैं कि ऊंचे महल, घर, द्वार, मान—सम्मान देखकर गर्व मत कीजिए क्योंकि क्या भरोसा इस जीवन का कल मिट्टी में मिलने के बाद उस पर घास जम जाएगी:

कबीर कहा गरबियो, ऊंचे देखि आवास।
काल्हि परयूं भवै लेटणां ऊपर जामै घास।।¹⁶

संत साहित्य में अहिंसा और दया का विशेष महत्व है। कबीर कहते हैं:

बकरी पाती खात है, ताकी काढ़ी खाल।
जो बकरी को खात है, ताको कहा हवाल।।¹⁷

गुरु नानक ने ‘एक ओंकार’ के माध्यम से मानव—एकता और समानता का संदेश दिया। उन्होंने जाति—पांति, धार्मिक संकीर्णता और भेदभाव का विरोध किया। सत्य, सेवा, परिश्रम और परोपकार को धर्म का आधार माना। उन्होंने निराकार, सर्वव्यापी ईश्वर की उपासना तथा गुरु के मार्गदर्शन से सत्य के पथ पर चलने का संदेश दिया:

नानक बेड़ी सांच की तरीऐ गुरु बीचारि।
इक आवहिं इक जावहीं पूरि भरे अहंकार।।¹⁸

एक अन्य पद्यांश में गुरु नानक देव जी का भक्ति भाव अवलोकनीय है:

सुखि बड़ा आंखें सब कोई, केवड़ा बड़ा डीठ होई।¹⁹

इसी प्रकार ईश्वर के शुद्ध निवास स्थान की चर्चा करते हुए मनुष्यों को सात्विकता का उपदेश देते दृष्टिगोचर होते हैं:

नहिं निंदा नहिं अस्तुति जाके, लोग मोह-अभिमान।

हरष सोक ते रहै नियारौ, नाहिं मान-अपमान।²⁰

संत मलूकदास ने समस्त प्राणियों के भीतर एक आत्मा का दर्शन करते हुए सभी को समान महत्व देने पर बल दिया। वे कहते हैं—जीव हत्या करना परमात्मा की हत्या करने के समान है—कुंजर चींटी पसू नर सब में साहेब एक।²¹

इसी प्रकार संत तुकाराम ने अपने अभागों में मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा की है। दया, प्रेम, करुणा, शील, संतोष इत्यादि का प्रस्फुटन उनकी वाणी से हुआ है:

नन्हे माझे मत। साक्षी करुनि सांगे संत।²²

संत साहित्य का मूल स्वर मानवतावादी है। संतों ने लोकमंगल के लिए प्रत्येक व्यक्ति को सम्मान देने पर बल दिया। गुरु नानक ने मानवता को सर्वोच्च धर्म माना। संत तुकाराम जगत के कल्याण में ही संतों के जीवन को सार्थक मानते हैं:

जगाच्या कल्याणा संताचा विभूति। देहकष्ट विति उपकरे

भूतांची दया हें भांडवल संता। आपुली ममता नाहीं देही।²³

अर्थात्, संतों की महानता इसी में है कि वह जगत के कल्याण के लिए आते हैं। संत सदैव सात्विक वृत्ति के समर्थक थे—सीत संतोख ते शब्द जा मुख बसै, संत जन। जौहरी सांच मानी।²⁴

संत कवियों ने जाति-व्यवस्था, पाखंड, कर्मकांड, अंधविश्वास और सामाजिक कुरीतियों का विरोध किया। संतों ने माया को मनुष्य के आध्यात्मिक मार्ग की सबसे बड़ी बाधा और 'महाठगिनी' बताया। कबीर लिखते हैं:

केशव में कमला हवै बैठी तीरथ में भई पानी।

पंडा के मूरत हवै बैठी, राजा के घर रानी।।

काहू के हीरा हवै बैठी, काहू के कौड़ी कानी।

भक्तन के भक्तिन हवै बैठी, ब्रह्मा के ब्राह्मनी।

कहै कबीर सुनो है संतो, यह सब अकथ कहानी।²⁵

संतों ने मन और माया के अविच्छिन्न स्वरूप पर विश्वास व्यक्त किया। प्रायः सभी संतो ने वैराग्य, सहज समदृष्टि, सहज विचरणा एवं नाम ज्ञान द्वारा ज्ञान मार्ग का सहजीकरण किया है। संत दादू ने विकारों के सहज व्यवहार को ही अपने मत का मूल तत्व माना है:

एक राम छाड़ै नहीं, छाड़ै सकल विचार।

दादू सहजै होय सब, दादू का मत सार।²⁶

संत तुकाराम ने भी भारतीय समाज में चिरकाल से चली आई सामाजिक बुराइयों पर कड़ी चोट की। उन्होंने समाज में ऊंच-नीच, अमीर-गरीब, तथा धर्म-अधर्म का भेद मिटाते हुए संपूर्ण मानव जाति को संगठित करके सभी के लिए समान धरातल उपलब्ध कराया। इन संतों के संबंध में वासुदेव सिंह लिखते हैं, "वस्तुतः उनकी आध्यात्मिक चेतना ने त्याग, अपरिग्रह, सत्य, अहिंसा, प्रेम, करुणा आदि का जो संदेश दिया तथा अन्याय, क्रूरता, हिंसा पाखंड और व्यभिचार का प्रतिरोध किया, वही उनका मौलिक अवदान है, वही उनके समाज-सुधारक का रूप है और वही उनके चिंतन को अपराजेय बनाता है।"²⁷

संत साहित्य का सामाजिक प्रभाव—मध्यकालीन भारत में जब समाज जातिगत भेद-भाव, धार्मिक कट्टरता, कर्मकांड, अस्पृश्यता, ऊंच-नीच तथा सामाजिक असमानताओं से ग्रस्त था, तब संत कवियों ने अपनी वाणी की ओजस्विता से जन सामान्य में समानता, मानवता, प्रेम, करुणा और लोकमंगल की भावना का संचार किया। संत कवियों ने जिस नूतन धर्म की प्रतिष्ठा की वह लोक धर्म ही नहीं अपितु विश्व धर्म में परिणत हो गया और सामान्य जन का पथ प्रदर्शन करने लगा। शिवकुमार शर्मा कहते हैं, "जिस युग में इस काव्य की सृष्टि हुई वह अज्ञान, अशिक्षा और अनैतिकता का युग था। संतों की पीयूष-वर्षिणी उपदेशमयी वाणी ने उसमें एक दृढ़ नैतिकता की प्रतिष्ठा की। संत संप्रदाय ने धर्म का ऐसा स्वाभाविक, निश्छल, व्यावहारिक तथा विश्वासमय

रूप जन भाषा में उपस्थित किया जो कि विश्वधर्म बन गया और अब भी जनजीवन को पुनर्जागरण का पावन संदेश दे रहा है। संत साहित्य ने जन जीवन को धर्म-प्रवण एवं आशामय बनाया।²⁸ संत कवियों ने जिस विश्व धर्म की प्रतिष्ठा की उसका मूलाधार है हृदय की पवित्रता है। नगेंद्र लिखते हैं, “संत काव्य का लक्ष्य सामान्य अशिक्षित जनता में सत्य का निरूपण करना, कथनी-करनी के तारतम्य पर बल देना तथा ‘नाम’ के माधुर्य को जनता तक पहुंचाना था।”²⁹

वर्तमान समय में सांप्रदायिक तनाव, जातीय भेदभाव, हिंसा, नैतिक पतन और सामाजिक विघटन जैसी समस्याओं के बीच संतों की लोकमंगलकारी शिक्षाएँ प्रासंगिक हैं। उनकी वाणी समरसता, सहिष्णुता, मानवता और सामाजिक सद्भाव का संदेश देती है। रवीन्द्र कुमार सिंह के अनुसार, “संत कवियों की वाणी ने जो अलख जगाया है वह हमारे आज के टूटते-बिखरते जीवन के सापेक्ष उतना ही मूल्यवान है जितना अपने युगीन संदर्भों में था।”³⁰

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि संत साहित्य भारतीय साहित्य और संस्कृति की उस सशक्त मानवीय धारा का प्रतिनिधित्व करता है, जिसने मध्यकालीन समाज में व्याप्त जातिगत विषमता, सामाजिक भेदभाव, धार्मिक रुढ़ियों, कर्मकांड, बाह्याडंबर और सांप्रदायिक संकीर्णताओं के बीच मनुष्य की गरिमा और समानता को केंद्रीय मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया। संत कबीर, रैदास, गुरु नानक, दादू दयाल, तुकाराम, नामदेव, पीपा, मलूकदास, सेन तथा पलटू राम आदि संतों की वाणी में सामाजिक चेतना, अहिंसा, धार्मिक सहिष्णुता, प्रेम, दया, करुणा, सेवा और श्रम की प्रतिष्ठा का व्यापक प्रतिपादन मिलता है। इन संतों ने धर्म को बाह्य कर्मकांड और रुढ़ियों से मुक्त कर उसे आचरण, नैतिकता और मानवीय संवेदना से संबद्ध किया।

संत साहित्य की विशिष्टता इस तथ्य में भी निहित है कि उसने आध्यात्मिक मुक्ति को सामाजिक मुक्ति से पृथक् न मानकर दोनों को परस्पर संबद्ध किया। लोकभाषाओं को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर संतों ने ज्ञान और आध्यात्मिक चेतना को अभिजात वर्ग की सीमा से बाहर निकालकर व्यापक जनसमुदाय तक पहुँचाया। इस दृष्टि से संत साहित्य केवल धार्मिक या आध्यात्मिक काव्य न होकर सामाजिक पुनर्जागरण की महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति बन जाता है। संतों का चिंतन मानव-केन्द्रित है, जिसमें जाति, वर्ण, धर्म और संप्रदाय से परे मनुष्य को प्राथमिकता प्राप्त है। अतः ‘मानवता’, ‘प्रेम’ और ‘लोकमंगल’ संत साहित्य की मूल चेतना के प्रमुख आधार हैं। समकालीन संदर्भ में भी यह चेतना सामाजिक समरसता, सह-अस्तित्व, विश्वबंधुत्व और शांति के लिए महत्वपूर्ण वैचारिक आधार प्रदान करती है।

संदर्भ सूची

1. चतुर्वेदी, आचार्य परशुराम (1972) उत्तर भारत की संत परंपरा; सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, पृ. 3।
2. वही, पृ. 8।
3. सरस्वती, स्वामी जगदीश्वरानंद (2001) ऋग्वेद: 6.22.1; ऋग्वेद शतकम्; (संपादक), विजय कुमार, गोविंद राम हसनंद, वैदिक बुक्स, दिल्ली, पृ. 80।
4. त्रिगुणायत, गोविंद (1961) हिंदी की निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि. साहित्य निकेतन, कानपुर, पृ. 113।
5. श्रीमद् भगवद् गीता, अध्याय 7, श्लोक 25, गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् 2082, पृ. 310।
6. दादू बानी भाग -1, पृ. 58-59।
7. त्रिगुणायत, गोविंद (1961) हिंदी की निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि. साहित्य निकेतन, कानपुर, पृ. 301।
8. नागेंद्र (1980) हिंदी साहित्य का इतिहास. नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ. 140।
9. द्विवेदी, हजारी प्रसाद (2025) हिंदी साहित्य उद्भव और विकास. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 210।
10. वंशी, बलदेव (2010) भारतीय संत परंपरा. किताब घर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 67।
11. हंस, कृष्ण लाल (1974) हिंदी साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास. चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 123-125।
12. शर्मा, शिव कुमार (1970) हिंदी साहित्य युग और प्रवृत्तियाँ. अशोक प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 123।

13. चतुर्वेदी, परशुराम (1952) *संत काव्य (संग्रह)*. किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, भूमिका, पृ. 12।
14. दास, श्यामसुंदर (संपादक) (2015) *कबीर ग्रंथावली*. जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, पृ. 29।
15. द्विवेदी, हजारी प्रसाद (1976) *कबीर*. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 324।
16. वही, पृ. 16।
17. सेठ, रमेश (1992) *तुकाराम एवं कबीर एक तुलनात्मक अध्ययन*. साहित्य शोध संस्थान, दिल्ली, पृ. 64।
18. मिश्र, जयराम (1960) *श्री गुरु ग्रंथ दर्शन*. साहित्य भवन, प्रा. लि., इलाहाबाद, पृ. 61।
19. गुप्ता, गणपति चंद्र (2022) *हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास*. लोक भारती प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 162।
20. शुक्ल, रामचंद्र (2020) *हिंदी साहित्य का इतिहास*. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 69।
21. वंशी, बलदेव (संपादक) (2003). *संत मलूक ग्रंथावली*. परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 13।
22. देवसरे, हरिकृष्ण (2012) *संत तुकाराम*. सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 49।
23. वही, पृ. 55।
24. द्विवेदी, हजारी प्रसाद (1976) *कबीर*. राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 34।
25. शर्मा, शिवकुमार (1995) *कविता की परंपरा: युग और प्रवृत्तियां*. अशोक प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 05।
26. सुधाकर, द्विवेदी (संपादित 1906). *दादू साहब की बानी*. भाग-1, पृ. 191।
27. सिंह, वासुदेव (2001) *हिंदी संत काव्य: समाज शास्त्रीय अध्ययन*. विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, पृ. 311।
28. वर्मा, शिवकुमार (2015) *हिंदी साहित्य: युग और प्रवृत्तियां*. अशोक प्रकाशन, दिल्ली, पृ. 139।
29. नागेंद्र एवं हरदयाल (संपादक) (2018). *हिंदी साहित्य का इतिहास*. संपादक, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, पृ. 141।
30. सिंह, रवींद्र कुमार (2005) *संत काव्य की सामाजिक प्रासंगिकता*. वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 38।

---==00==---